एक संस्थान के तौर पर विद्यालय*

आंद्रे बेते**

आंद्रे बेते का यह लेख स्कूल को एक सामाजिक संस्था के तौर पर मानते हुए यह दर्शाने का प्रयास करता है कि स्कूल की समाज में सिर्फ़ शिक्षणशास्त्रीय भूमिका ही नहीं है बल्कि वह एक लोकतांत्रिक समाज में राज्य और समाज के बीच मध्यस्थता कायम करने वाली संस्था भी है।

1950 में भारतीय संविधान ने सभी बच्चों को चौदह साल की उम्र तक मुफ़्त व अनिवार्य शिक्षा मुहैया करवाने के लिए निर्देशित किया था। आधुनिक दुनिया के ज़्यादातर समाजों में यह निर्देश जबकि एक हकीकत में बदल चुका है, भारत अभी भी इसमें कामयाबी हासिल करने की कोशिश कर रहा है। क्या खुद शिक्षा को बुनियादी हक में बदल देने से कोई महत्वपूर्ण बदलाव आएगा, यह देखा जाना अभी बाकी है।

सभी बच्चों के लिए एक निश्चित समय तक विद्यालयीकरण मुहैया करवाने का विचार तुलनात्मक तौर पर नया है। पूर्व-औद्योगिक समाजों में यह खासियत दुनिया में कहीं नहीं पाई जाती थी। हालाँकि औद्योगिक क्रांति की वजह से बड़े पैमाने पर हुए बदलावों के साथ-साथ ज़्यादा देर तक और अच्छे विद्यालयीकरण की ज़रूरत महसूस करना बढ़ता गया। लोकतांत्रिक व्यवस्था के विस्तार ने भी इसमें अपना योगदान दिया। लेकिन यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि 19वीं सदी में विद्यालयीकरण का विस्तार, भारत को तो छोड़िए यहाँ तक कि ब्रिटेन व फ्रांस में भी धीमा, छितराया हुआ व अव्यवस्थित रहा। खासतौर पर ग्रामीण इलाकों में मेहनतकश गरीबों की बड़ी आबादी के पास औपचारिक शिक्षा बहुत ही कम थी। ऐसा नहीं है कि विद्यालय के बगैर या उसके बाहर शिक्षा नहीं हो सकती। बच्चे का समाजीकरण और वयस्क जीवन के लिए उसकी तैयारी सभी समाजों में होती है, जिनमें साक्षरता पूर्व के समाज भी शामिल होते हैं। 'शिक्षा' की शब्दावली को व्यापक अर्थों में इस्तेमाल किया जाए तो खेतीहर समाजों में बढ़ते बच्चों की शिक्षा व समाजीकरण में परिवार, हम उम्र दोस्तों का समूह और समुदाय की बड़ी भूमिका रहा करती थी। यहाँ तक कि अच्छी तरह से विकसित शिक्षा प्रणाली वाले समाजों में भी विद्यालय अकेला बच्चे की शिक्षा में योगदान नहीं करता। लेकिन उसके योगदान को सबसे अलग करके पहचाना जा सकता है और इस बात को बहुत ही साफ़ तौर पर समझा जाना चाहिए।

* *शिक्षा-विमर्श,* मई-जून 2011, पृ. 5-12. से साभार प्रकाशित

** जाने माने समाजशास्त्री, *प्रोफ़ेसर* ऑफ़ इमेरिटस, दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकनॉमिक्स, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्राचीनकाल व मध्यकाल में चलने वाले विद्यालय आधुनिक विद्यालयों से अलग भावना से चलाए जाते थे। पूर्व के सोपानक्रमित समाजों में इस बात को बहुत व्यापक तौर पर नहीं माना जाता था कि मेहनतकश गरीब अपने बच्चों को विद्यालय भेजने की ख्वाहिश रखते होंगे। भारत में जाति नाम का एक और कारक औपचारिक शिक्षा तक पहुँच को निर्देशित करता था। सभी जातियों व समुदायों के बच्चे, चाहे वह लड़की हो या लड़का, एक साथ एक ही कक्षा में बैठ सकते हैं और एक ही किस्म की शिक्षा हासिल कर सकते हैं, यह एक आधुनिक विचार है और जातियों व ज़मीनी संपदा की बुनियाद पर टिके समाज में इसे आम स्वीकृति नहीं मिली। अवसरों की बराबरी उन्नीसवीं सदी का एक विचार है और उन्नीसवीं सदी में भी इसे सिर्फ़ लड़कों के लिए, न कि लड़कों व लड़कियों दोनों के लिए लागू किया गया था।

शिक्षा तक पहुँच न सिर्फ़ वर्ग, जाति व लिंग की वजह से बाधित होती थी बल्कि अतीत के विद्यालय काफ़ी हद तक धार्मिक नियमों व धार्मिक सत्ता से नियंत्रित व संचालित होते थे। शिक्षा की विषय-वस्तु पर धार्मिक विश्वासों व आस्थाओं का गाढ़ा रंग चढ़ा रहता था और उसकी व्यवस्था अक्सर धार्मिक या अर्द्ध-धार्मिक किस्म के कार्यकर्ताओं के हाथों में होती थी। चर्च, मस्ज़िद या फिर मंदिर के अधीनस्थ विद्यालयों को चलाना कोई असामान्य बात नहीं मानी जाती थी। एक ऐसे सेकुलर विद्यालय का विचार, जिसके शिक्षकों या बच्चों को किसी भी किस्म की धार्मिक विश्वास की परीक्षा को देने की ज़रूरत न पड़े, काफी नया ही है।

मैंने अभी तक विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा की गुणवत्ता या उसकी स्तरीयता के बारे में बहुत ही कम बात की है। इसमें काफी विविधता है और यह उसके पास मौजूद भौतिक व बौद्धिक संसाधनों पर निर्भर करती है। शिक्षा को हक का दर्ज़ा दे देना एक बात है और ऐसी असरदार नीतियाँ बनाना दूसरी बात है जिससे यह पक्का हो सके कि विद्यालयों के पास तमाम संसाधन हों जो ऐसी किस्म की शिक्षा दे सकें जैसी कि उनसे उम्मीद रखी जाती है। प्रत्येक विद्यालय में एक व्यापक सामाजिक माहौल पाया जाता है और उसकी कार्य कुशलता कुछ हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि आस-पास का माहौल उस पर किस तरह के सकारात्मक या नकारात्मक दबाव डालता है। यह नहीं कहा जा रहा है कि विद्यालय अपने आस-पास के माहौल में कोई बदलाव नहीं ला सकता। बेशक शिक्षा सामाजिक बदलाव में एक भूमिका अदा करती है लेकिन यह एक झटके में नहीं होता, इसमें काफी लंबा वक्त लगता है।

विद्यालय का सिर्फ़ शिक्षणशास्त्रीय पहलू ही नहीं बल्कि एक सामाजिक पहलू भी होता है।

जब मैं एक संस्थान के तौर पर विद्यालय की बात करता हूँ, तो मेरा मतलब यह होता है कि इसकी एक अलग से सामाजिक पहचान है जो वक्त गुज़रने के साथ टिकी रही है। इस संस्थान को इसके वैयक्तिक सदस्यों से अलग किया जाना चाहिए जो कि इसके विविध हिस्सों में अपनी-अपनी भूमिका अदा करके और नए सदस्यों के अंदर आने की जगह बनाकर जा चुके होते हैं।

समाजीकरण की व्यापक प्रक्रियाओं में अदा की गई इस भूमिका को महत्वाकांक्षी और होड़ में लगे अभिभावक अनदेखा कर देते हैं, जिनका जबरदस्त सरोकार अपने बच्चों के परीक्षा में मिले प्राप्तांकों से होता है। कभी-कभी विद्यालय अकादमिक कार्य कुशलता का बेहद कामयाब रिकॉर्ड बरकरार रखते हैं लेकिन अपने सामाजिक कामकाज के मामले में उनका रिकॉर्ड बेहद घटिया होता है। बेशक, एक ऐसा विद्यालय जिसमें सिखाने व सीखने की परवाह न की जाती हो या उसे बेहद हल्के ढंग से बरता जाता हो, उसे बमुश्किल ही किसी भी तरह से कामयाब कहा जाएगा। दुर्भाग्यवश, भारत में ऐसे विद्यालय ढेरों की तादाद में हैं और वे सभी के लिए शिक्षा के हक के लिए उत्साह का मज़ाक उड़ाते हैं।

जब मैं एक संस्थान के तौर पर विद्यालय की बात करता हूँ, तो मेरा मतलब यह होता है कि इसकी एक अलग से सामाजिक पहचान है जो वक्त गुज़रने के साथ टिकी रही है। इस संस्थान को इसके वैयक्तिक सदस्यों से अलग किया जाना चाहिए जो कि इसके विविध हिस्सों में अपनी-अपनी भूमिका अदा करके और नए सदस्यों के अंदर आने की जगह बनाकर जा चुके होते हैं। नए सदस्यों से पुरानों का विस्थापन छात्राओं/छात्रों के मामलों में सबसे साफ़ तौर पर देखा जा सकता है, लेकिन यह शिक्षकों, प्रधानाचार्यों और विद्यालय प्रबंधकों के मामले पर भी लागू होता है। स्प्रिंगडेल्स विद्यालय अभी अपना स्वर्ण जयंती समारोह मना रहा है। पिछले पचास सालों में कई व्यक्ति इसमें आए और चले गए लेकिन विद्यालय अभी भी बरकरार है। जिस विद्यालय से मैंने 1950 में दसवीं पास की थी वह अपना शताब्दी समारोह मना रहा है। हाल ही में, जब मैं वहा गया तो मैंने पाया कि उसके मौजूदा सदस्यों में से एक को भी मैं व्यक्तिगत तौर पर नहीं जानता। फिर भी, वह एक अजीब तरीके से वही पुराना विद्यालय था। जब भी कोई विद्यालय अपना शताब्दी समारोह मनाता है तो किसी को भी एक संस्थान की जिंदगी की तुलना में व्यक्तिगत जिंदगी की क्षणभंगुरता का अहसास होता है।

एक संस्थान के तौर पर विद्यालय की भौतिक के साथ-साथ एक सामाजिक पहचान भी होती है। ऐसे भी विद्यालय होते हैं जिनके पास विशाल भवन और लंबे-चौड़े मैदान होते हैं और ऐसे विद्यालय भी होते हैं जिनके पास काफी तंग व नाकाफ़ी-सी जगह होती है। जिस विद्यालय से मैंने दसवीं पास की थी उसके पास अपना मैदान नहीं था और हम उसके पास ही बने बाग में खेल खेलने जाते थे। लेकिन उसमें एक बरामदा था जिसमें मैंने अपनी बहुत-सी शामें और छुट्टियाँ गुज़ारीं। वह कोई बहुत अच्छा विद्यालय था यहाँ तक कि कोई अगुवा विद्यालय नहीं था, लेकिन एक ऐसा विद्यालय था जहाँ मैं खुश था और यह कोई छोटी बात नहीं थी।

अलग-अलग तरह के विद्यालयों में आवासीय विद्यालयों की एकदम से अलग ही पहचान होती है। मैंने अपनी औपचारिक शिक्षा की शुरुआत एक आवासीय विद्यालय से की थी, जो न सिर्फ़ घर से दूर था बल्कि उस शहर से भी दूर था जिसमें कि वह विद्यालय था। मैं वहाँ पर खुश नहीं था और वहाँ पर दो साल से ज़्यादा नहीं रहा। आवासीय विद्यालयों के बारे में बहुत कुछ लिखा गया था और वे उस चीज़ के अच्छे

विद्यालय, विशेष अध्ययन और कड़ी मेहनत करने की जगह है। लेकिन एक संस्थान के तौर पर कामयाब होने के लिए वह सिर्फ़ कड़ी मेहनत की ही जगह नहीं होनी चाहिए। उसे मनोरंजन करने, लुत्फ़ उठाने और समारोह मनाने की जगह भी होना चाहिए। उपहार दिवस, स्थापना दिवस या सालाना जलसे का दिन और ऐसे दूसरे मौके विद्यालय की रोज़मर्रा की ज़िंदगी की एकरसता को तोड़ने के मौके होते हैं।

उदाहरण मुहैया करवाते हैं जिन्हें समाजशास्त्री 'संपूर्ण संस्थान' कहते हैं (गॉफमैन, 1961)। मेरा मानना है कि बढ़ते बच्चे के समाजीकरण का ज़िम्मा किसी एक संस्थान पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए, बल्कि उसे कुछ संस्थानों के बीच साझा किया जाना चाहिए जिसमें परिवार व विद्यालय अहम् हैं। विद्यालय का एक संपूर्ण संस्थान के तौर पर फायदेमंद असर तभी हो सकता है जब कुछ खास तरह के हालात हों।

एक विद्यालय किसी भी दूसरे संस्थान की तरह अपना स्थान बदल सकता है, शहर के किसी दूसरे हिस्से में या यहाँ तक कि दूसरे शहर में भी जा सकता है और फिर अपनी सामाजिक पहचान के सभी ज़रूरी पहलुओं को ज्यों का त्यों बरकरार रख सकता है। किसी संस्थान की भौतिक पहचान केवल उसकी सामाजिक पहचान की ओर ध्यान केंद्रित करती है और अपने सदस्यों के दिमाग में उसकी छविचस्पा कर देती है, लेकिन इनसे सामाजिक पहचान का स्वरूप और उसकी खासियतें तय नहीं होतीं। किसी संस्थान की सामाजिक पहचान उसकी गतिविधियों के खास पैटर्नों से और उस संस्थान के व्यक्तियों के आपसी संबंधों के ढाँचों, जो कि उन गतिविधियों के आकार-प्रकार गढ़ते है, से बनती हैं, बरकरार रहती हैं और पुनर्उत्पादित होती रहती है। स्वाभाविक रूप से, प्रत्येक विद्यालय अपनी गतिविधियों के अनूठेपन और आपसी संबंधों की खासियतों पर ज़ोर देना पसंद करता है, लेकिन वे गतिविधियाँ व आपसी संबंध एक आम किस्म को ही दर्शाते हैं। इसी में संस्थानों की सामाजिक अहमियत छुपी होती है – प्रत्येक संस्थान किन्हीं संस्थानों के परिवार का एक सदस्य होता है।

प्रत्येक विद्यालय की एक खास लय और उसकी गतिविधियों का एक चक्र होता है। उन गतिविधियों की बारंबारता और नियमितता और विद्यालयी जिंदगी का रोज़मर्रापन ही उसे एक संस्थान बनाता है। हमारे देश की उच्च शिक्षा प्रणाली पर यह एक टिप्पणी है कि उनमें से कई महाविद्यालय और विश्वविद्यालय अकादमिक काम की नियमितता और उसके रोज़मर्रापन को बरकरार रखने में नाकाम रहे हैं, जबकि विद्यालयों का रिकॉर्ड इस मामले में बेहतर रहा है।

जीवन के पारंपरिक तरीकों से आधुनिक तौर-तरीकों में रूपान्तरण में विद्यालय की भूमिका बदलते वक्त के साथ-साथ बदलती ही है। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि विद्यालय इस भूमिका को हमेशा ही बेहद कामयाबी के साथ अदा नहीं करता आया है। जहाँ शिक्षक अनियमित और वक्त के पाबंद न हों, उनके छात्राओं/छात्रों से वक्त की कीमत को लेकर संजीदा होने की उम्मीद बमुश्किल ही की जा सकती है। रोज़मर्रा के कामकाज का बेहद कड़ाई के साथ पालन करना एकरस और दबावपूर्ण हो सकता है लेकिन रोज़मर्रा के कामकाज को अपरिवर्तनीय व सख्ती

लिए नहीं होना चाहिए। एक अच्छा विद्यालय अध्ययन के साथ-साथ अपनी छात्राओं/ छात्रों को कई गतिविधियाँ भी करवाता है जिससे उन्हें चुनाव करने में विविधता मिलती है।

विद्यालय अध्ययन और कड़ी मेहनत करने की जगह है लेकिन एक संस्थान के तौर पर कामयाब होने के लिए वह सिर्फ़ कड़ी मेहनत की ही जगह नहीं होनी चाहिए। उसे मनोरंजन करने, लुत्फ़ उठाने और समारोह मनाने की जगह भी होनी चाहिए। उपहार दिवस, स्थापना दिवस या सालाना जलसे का दिन और ऐसे दूसरे मौके विद्यालय की रोज़मर्रा की जिंदगी की एकरसता को तोड़ने के मौके होते हैं। ये विद्यालय के सभी सदस्यों को एक साथ लाते हैं और बाहरी दुनिया के लिए उसके दरवाज़े खोलते हैं और विद्यालय के अंदर सामुदायिक भावना को मज़बूत करते हैं।

एक संस्थान के तौर पर विद्यालय न सिर्फ़ गतिविधियों का एक अलग-सा पैटर्न होता है बल्कि शिक्षकों, छात्राओं/छात्रों और शिक्षक व छात्राओं/छात्रों के बीच में संबंधों का भी एक अलग-सा ढाँचा होता है। जिस तरह से गतिविधियों का दायरा और विविधता एक विद्यालय से दूसरे विद्यालय में बदलती रहती है उसी तरह से उसके सदस्यों के बीच संबंधों व आपसी मेलजोल के तौर-तरीके भी बदलते रहते हैं। उसी वक्त, जब हम विद्यालयों की आपसी तुलना करते हैं तो इन संबंधों में एक खास तरह की पारिवारिक समानता दिखाई देती है। फिर भी, हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि भारत जैसे देश में विद्यालय की किस्मों में विविधता की प्रचुरता है। विद्यालय का अंदरूनी ढाँचा कुछ हद तक इस बात पर निर्भर करता है कि उस पर बाहर से वित्तीय व प्रशासनिक नियंत्रण किसका है। एक अच्छा विद्यालय स्वायत्ता की कद्र करता है लेकिन विपरीत राजनैतिक माहौल में स्वायता को बरकरार रखना कोई आसान काम नहीं होता।

आकार और अंदरूनी संगठन को लेकर भी विद्यालय कई तरह के होते हैं। सभी विद्यालय अपने बच्चों को कक्षाओं में बाँटते हैं लेकिन उनमें से कुछ बच्चों को घरों (बच्चों का एक अलग किस्म का वर्गीकरण) में भी बाँटते हैं। इस तरीके से छात्राएँ/छात्र एक कक्षा के साथ-साथ एक घर से भी ताल्लुक रखते हैं। अपनी कक्षा में वे अपने आपको ज़्यादातर अपने हम उम्र बच्चों के साथ जोड़ पाते हैं लेकिन घर में वे अपने को अलग-अलग कक्षाओं की छात्राओं/ छात्रों के साथ जोड़ पाते हैं। इसी तरह से, एक तो कक्षाध्यापिका/कक्षाध्यापक और घर का मालकिन/मालिक होती हैं, दोनों ही छात्राओं/छात्रों की एक सत्र से दूसरे सत्र में तरक्की पर निगाहें रहती हैं।

विद्यालय में आयु का एक अलग ही ढाँचा होता है। दूसरे कई संस्थानों से अलग, इसमें बच्चे व व्यस्क दोनों ही होते हैं, हालाँकि परिवार और खासतौर पर विस्तारित परिवार में उम्र का दायरा बड़ा व्यापक होता है, जिसमें नवजात से लेकर वृद्ध महिला-पुरुष तक शामिल होते हैं। शहरी मध्यम वर्ग में उम्र की श्रेणी व्यवस्था पर सावधानीपूर्वक दिया जाने वाला ध्यान बहुत साफ़ तौर पर नज़र आता है और संभवत: आधुनिक शिक्षा की मांगों ने उसमें अपना योगदान दिया है। अतीत के विद्यालयों ने उम्र के श्रेणीकरण पर ज़्यादा रियायती रवैया अपनाया था। फ्रांसीसी इतिहासकार फिलिपे एरियसो (1962-153) के

मुताबिक, 'मध्यकालीन विद्यालयों में एक ही कक्षा में सभी उम्र के बच्चे होते थे'। आगे भी, 'इन कक्षाओं में दस से इक्कीस या उससे ज़्यादा की उम्र वाले लड़के व आदमी एक साथ इकट्ठे होते थे।'

उम्र में फ़र्क किसी विद्यालय की छात्राओं/छात्रों व शिक्षकों के बीच संबंधों में समाया रहता है। वह वरिष्ठ व कनिष्ठ छात्राओं/छात्रों के बीच संबंधों के मामले में भी महत्वपूर्ण होता है। आखिरकार छह-सात साल के बच्चे और सोलह-सत्रह साल के युवा की दुनिया के बीच काफी फ़र्क होता है। बचपन, किशोरावस्था और वयस्कावस्था अलग-अलग समाजों में अलग-अलग तरह से देखे जाते हैं और उम्र के बारे में समझ पिछले सौ सालों में काफ़ी हद तक बदली है। विद्यालय को बच्चे को उसकी किशोरावस्था में समझना होता है, जो कि किसी भी समाज में जीवन का एक महत्वपूर्ण व नाज़ुक दौर होता है, खास तौर पर ऐसे समाज में जो कि रूपान्तरण के दौर से गुज़र रहा हो। इस बात पर बहुत ज़ोर नहीं दिया जा सकता है कि किशोरावस्था की समस्या एक सामाजिक समस्या है और सिर्फ़ शिक्षणशास्त्रीय समस्या नहीं है। संस्थान के तौर पर विद्यालय का एक महत्वपूर्ण परीक्षण इस बात से होता है कि वह बच्चों को अपने जीवन के इस मुश्किल लेकिन रोमांचक दौर से गुज़रने को किस तरह समझने की काबिलियत रखता है।

छात्राओं/छात्रों व शिक्षकों को लेकर विद्यालय की लैंगिक बनावट एक मामले से दूसरे मामले में अलग-अलग होती है। सिर्फ़ लड़कों या सिर्फ़ लड़कियों के लिए विद्यालय होते हैं और ऐसे भी विद्यालय होते हैं जहाँ लड़के व लड़कियों, दोनों को ही दाखिला दिया जाता है। वहाँ पर शिक्षकों के तौर पर महिलाओं का दबदबा बढ़ा है।

ऐतिहासिक शब्दावली में कहें तो, किशोरावस्था के महत्वपूर्ण वर्षों में लड़के व लड़कियों दोनों को ही अपने यहाँ दाखिला देने और उनकी देखभाल करने वाले विद्यालय एक संस्थागत नवाचार हैं। इसमें सामाजिक मूल्यों व रवैये में गहरे बदलाव की झलक मिलती है और यह उस बदलाव में अपना योगदान भी करती है। यह न सिर्फ़ व्यापक समाज में आदमी व औरतों के बीच बराबरी को सृजित करती है बल्कि उसके लिए ज़रूरी हालात भी पैदा करती है। यह ऐसे समाज में जहाँ लैंगिक भेदभावों को घर और समुदाय में स्वाभाविक माना जाता हो, वहाँ पर किशोर लड़के व लड़कियों का एक-दूसरे के साथ बराबरी की बुनियाद पर मेलजोल होना कोई आसान बात नहीं है। लड़के व लड़कियों को एक ही दर्ज़े की शिक्षा मिले, यह विचार उन्नीसवीं सदी के लिए नया है और यह न सिर्फ़ भारत के लिए बल्कि औद्योगिक क्रांति के अगुवा देशों, ब्रिटेन व फ्रांस के लिए भी नया है। मैं इस बिंदु को दो उदाहरणों की मदद से पेश करुँगा। उसमें से पहले का ताल्लुक फ्रांस के 'महान विद्यालयों' से है, जिनकी डिज़ाइन नेपोलियन के विचार 'प्रतिभा के लिए आजीविकाओं' को मूर्त रूप देने के लिए या अवसरों की बराबरी के सिद्धांत के लिए की गई थी। हालाँकि ये विद्यालय एक खुली राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के ज़रिए छात्रों को नियुक्त करते थे, लेकिन पूरी उन्नीसवीं सदी और काफ़ी वक्त तक बीसवीं सदी में भी ये प्रतिस्पर्धा युवा महिलाओं के लिए न होकर सिर्फ़ युवा पुरुषों के लिए खुली

थी। दूसरे उदाहरण का ताल्लुक कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड के महाविद्यालयों से है जो याद किए जाने वाले वक्त से लेकर, पूरे के पूरे पुरुषवादी संस्थान थे। उन्नीसवीं सदी के आखिर में कैम्ब्रिज ने दो महाविद्यालय सिर्फ़ महिलाओं के लिए खोले जाने की अनुमति दी।

लेकिन उन्हें भी कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की परीक्षाएँ लेने की इज़ाजत नहीं दी गई, बा द में उन्हें परीक्षाएँ लेने की इजाजत दे दी गई लेकिन उन्हें विश्वविद्यालय की उपाधि/डिग्री नहीं दी गई। बीसवीं सदी में महिलाओं को उपाधि/डिग्री दी जाने लगी और बीसवीं सदी के दूसरे हिस्से में जाकर महाविद्यालयों ने पुरुष व महिलाओं दोनों को छात्राओं/छात्रों और अध्येताओं के तौर पर दाखिला देने की शुरुआत की।

भारत की पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था में जाति व शिक्षा के बीच एक नज़दीकी संबंध पाया जाता है। ऐसे हालातों में ब्राह्मण व दलित बच्चों का एकसाथ बैठकर या यहाँ तक कि सीधे ब्राह्मण शिक्षकों से दलित बच्चों का शिक्षा हासिल कर पाना अकल्पनीय था। 'पवित्रता' और 'अपवित्रता' से जुड़ी धारणाओं में गहरा बदलाव आया है और आधुनिक शिक्षा व सेकुलर विद्यालयों ने इस बदलाव को लाने में अपनी भूमिका अदा की है।

महिलाओं के बीच शिक्षा के विस्तार का एक नतीजा उनकी शादी की उम्र में सेकुलर बढ़ोतरी के रूप में नज़र आने लगा। उन्नीसवीं सदी के आखिर तक और बीसवीं सदी में काफी देर तक ऊँची जाति की महिलाओं में यौवन पूर्व ही शादी का रिवाज़ आम था। मुझे हैरानी होती है कि उच्च माध्यमिक विद्यालयों की कितनी लड़कियाँ इस हकीकत का अहसास कर पाती हैं कि उनकी दादियाँ और कम-से-कम उनकी पड़दादियाँ उनकी उम्र तक शादीशुदा होकर कुछ बच्चों की माँ बन चुकी होती थीं। अब सह-शिक्षा वाले विद्यालय की एक लड़की, जिसे अपनी कक्षा में लड़कों के साथ बराबरी के बरर्ताव का मौका मिला होता है, सत्रह या अठारह वर्ष की उम्र में विद्यालय को छोड़ते वक्त शादी नहीं करना चाहती। इस उम्र में वह एक शिक्षक, एक डॉक्टर, एक वास्तुकार, एक पत्रकार या एक सरकारी अधिकारी बनना चाहती है। एक सह-शिक्षा वाले विद्यालय में मिली अच्छी शिक्षा उसे तकनीक के साथ-साथ सामाजिक औज़ार भी मुहैया करवाती है जो कि उसके पेशेवर भविष्य की कामयाबी के लिए ज़रूरी हैं।

भारत में विद्यालय छात्राओं/छात्रों के तौर पर समायोजित किए जाने वाले सदस्यों की सामाजिक विविधता के मामले में काफी विविध किस्म के हैं और यह विविधता सिर्फ़ लैंगिकता के मामले में ही नहीं है। यह समुदाय, भाषा, धर्म, जाति और वर्ग के मामले में भी पाई जाती है। उन्हें समायोजित करना आसान काम नहीं है, खास तौर पर जहाँ विविधता बहुपरतीकरण के साथ-साथ चलती है जैसा कि वर्ग व जाति दोनों ही के मामले में होता है। एक छोटे से कस्बे में आमतौर पर चलने वाले किसी खास विद्यालय की छात्राओं/छात्रों या शिक्षकों में भाषाई या यहाँ तक कि धार्मिक, पृष्ठभूमि की विविधता बहुत ही कम पाई जाती है। ऐसा सिर्फ़ बड़े महानगरों में होता है कि कुछ विद्यालय अलग-अलग भाषाओं

और अलग-अलग धार्मिक आस्थाओं वाले बच्चों को अपनी ओर खींच पाने में कामयाब होते हैं। आधुनिक शिक्षा अपने भाव में सेकुलर है और एक ही विद्यालय व कक्षा में अलग-अलग आस्थाओं की मौज़दगी सेकुलर रवैयों व मूल्यों को आगे बढ़ाने में कुछ योगदान करती है।

भारत की पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था में जाति व शिक्षा के बीच एक नज़दीकी संबंध पाया जाता है। कुछ जातियों का शिक्षा पर एकाधिकार-सा था जबकि कुछ जातियाँ इससे एकदम बाहर थीं। 'पवित्रता' और 'अपवित्रता' की मान्याताएँ जातियों के बीच सामाजिक संबंध को नियंत्रित करने में कोई कम भूमिका अदा नहीं करती थीं। तथाकथित नीची जातियाँ अपवित्रता का लांछन अपने पर लिए हुए कई तरह के सामाजिक बहिष्कारों का शिकार होती थीं। ऐसे हालातों में ब्राह्मण व दलित बच्चों का एक साथ शिक्षा हासिल कर पाना अकल्पनीय था। 'पवित्रता' और 'अपवित्रता' से जुड़ी धारणाओं में गहरा बदलाव आया है और आधुनिक शिक्षा व सेकुलर विद्यालयों ने इस बदलाव को लाने में अपनी भूमिका अदा की है। सामाजिक अध्ययन यह दर्शाते हैं कि ग्रामीण इलाकों में भी दूसरी सार्वजनिक जगहों की तुलना में विद्यालय छुआछूत के व्यवहार से ज़्यादा मुक्त हैं (शाह 2000:463)।

इसका यह मतलब कतई नहीं है कि हकीकत में सभी जातियों और वर्गों के बच्चों को विद्यालय में दाखिल होने का बराबर मौका मिलता है, अच्छे विद्यालय की बात छोड़ भी दें तो उसके द्वारा मुहैया करवाई जा रही शिक्षा को पूरा करने का मौका मिलता है। एक तरफ़ तो शैक्षिक कामकाज व उपलब्धियाँ हासिल करना और दूसरी तरफ़ सामाजिक वर्ग व बहुपरतीकरण के बीच में एक बड़ा ही पेचीदा रिश्ता है। यह बात ज़्यादातर देशों और खास तौर पर भारत के लिए भी सही है। विद्यालय ऐसा कुछ कर सकता है कि वह वंचित परिवारों के योग्य व प्रतिभावान छात्राओं/छात्रों को अपनी ओर खींचे व उन्हें बढ़ावा दे, लेकिन कोई भी विद्यालय खुद-ब-खुद हमारे जैसे बहुत ही बहुपरती समाज में पाए जाने वाले जाति व वर्ग की वजह से पैदा होने वाली सभी वंचनाओं को संबोधित नहीं कर सकता।

आमतौर पर अब समाजशास्त्री इस बात को मानते हैं कि बहुपरती प्रणाली के लिए विद्यालयीकरण के नतीजे विरोधाभासी न हों तो भी अस्पष्ट तो होते ही हैं। बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि विद्यालयीकरण की किस्म कैसी है और वह समाज किस तरह का है जिस पर वह विद्यालयीकरण काम कर रहा है। एक तरफ़ तो यह वंचित घरों के प्रतिभाशाली बच्चों के लिए वैयक्तिक गतिशीलता के अवसर बनाता है। दूसरी तरफ़, हकीकत में अच्छे विद्यालयों तक पहुँच मुख्य तौर पर पहले से ही फ़ायदा पाए हुए परिवारों के बच्चों तक ही सीमित होती है, इसलिए गैर-बराबरी का तंत्र एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक दोबारा मज़बूत और दोबारा पैदा होता रहता है। इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि जहाँ कहीं भी अच्छा विद्यालय मौजूद होता है, वहाँ दूसरे सभी वर्गों की तुलना में मध्यम वर्ग को उसका सबसे ज़्यादा फ़ायदा मिलता है ।

आधुनिक समाज साफ़ तौर पर एक अलग ही व्यावसायिक प्रणाली के ज़रिए परिभाषित किए जाते हैं जो कि दूसरों से अलग और बहुपरती दोनों ही होती हैं। आर्थिक बदलावों की वजह से पैदा हुए बहुत सारे व्यवसायों को बराबरी का दर्ज़ा

नहीं मिला है, लेकिन सिद्धांत के तौर पर आदर व ज़िम्मेदारी की जगहों पर सभी की पहुँच खुली है। यह अतीत के उन समाजों से एकदम उलट है जहाँ पर ऐसी पहुँच काफ़ी हद तक पैदाइश से तय होती थी। सभी आधुनिक समाजों में शिक्षा प्रणाली व्यावसायिक प्रणालियों के साथ नज़दीकी से जुड़ी होती है और विद्यालय में मिली कामयाबी या नाकामयाबी उस व्यक्ति के आजीविका संबंधी भविष्य पर काफ़ी असर डालती है।

किसी भी पैदाइश का कोई भी ख्याल किए बगैर अवसरों की बराबरी के सिद्धांत को अपनाना पारंपरिक सीढ़ीनुमाक्रम वाले समाज के मूल्यों के रास्ते से हटना है। लेकिन इस सिद्धांत की स्वीकार्यता अपने-आप में, व्यवहार में व्यक्तिगत गतिशीलता की ऊँची दर की गारंटी नहीं है। व्यक्तिगत गतिशीलता की दर के मामले में समाजों में काफ़ी फ़र्क पाया जाता है और मौजूदा सबूत यह दर्शाते हैं कि भारत में यह दर कोई बहुत ज़्यादा नहीं है। ज़्यादातर गतिशीलता मध्यम वर्ग की अलग-अलग परतों के बीच होती है और ज़्यादा से ज़्यादा कुछ व्यक्ति ऊपर की ओर गति करके, मध्यम वर्ग के निचले तबकों से निकल कर कामकाजी वर्ग के सबसे ऊँचे पायदान-श्रम के कुलीनतंत्र-तक अपनी पहुँच बना पाते हैं। पेशेवर आजीविकाओं के लिए बच्चों को तैयार करने वाले विद्यालय आमतौर पर खेतीहर मज़दूरों, साझे के बटाईदार और असंगठित क्षेत्र के इधर-उधर आने-जाने वाले मज़दूरों की बड़ी तादाद की पहुँच से बाहर होते हैं।

यहाँ तक कि जहाँ पर बच्चे अच्छे विद्यालयों में दाखिला पा भी लेते हैं, तो भी कामयाबीपूर्ण कामकाज सिर्फ़ अकेले विद्यालय से ही सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। बच्चे को बढ़ाने में परिवार का प्रमुख असर होता है और इसकी शुरुआत विद्यालय में दाखिला लेने के पाँच या छः साल पहले ही हो जाती है और विद्यालय में पहुँचते-पहुँचते उसमें कुछ बुनियादी रवैयों व उन्मुखीकरणों की जड़ें जम ही जाती हैं, भले ही एक विद्यालय ऐसे परिवारों के बच्चों को दाखिला दे जो कि शैक्षिक, सांस्कृतिक या वित्तीय रूप से गैर-बराबर तरीके से समृद्ध हों। बेशक विद्यालय इन भेदभावों को कम करने में अपनी कुछ भूमिका अदा कर सकता है लेकिन यह उन्हें पूरी तरह खारिज नहीं कर सकता। यह विद्यालय पर निर्भर करता है कि वह इस बात को पक्का करें कि हकीकत में प्रतिभाशाली छात्राएँ/छात्र अपने विपरीत घरेलू माहौल के बावजूद अच्छी कामयाबी हासिल करें।

नागरिक समाज के एक संस्थान के तौर पर विद्यालय की भूमिका पर अपने संक्षिप्त से अवलोकन को दर्ज करते हुए मैं अपनी बात पूरी करूँगा। नागरिक समाज के विचार ने हाल ही के कुछ सालों में मशहूरी हासिल की है, लेकिन दुर्भाग्यवश इस बात पर बहुत ही कम सहमति या स्पष्टता है कि इससे लोगों का आखिर मतलब क्या है? कइयों के लिए नागरिक समाज का मतलब स्वैच्छिक संस्थाओं का कुल जमा है, जिन्हें गैर सरकारी संस्थाओं के नाम से जाना जाता है। मेरे लिए यह नागरिक समाज को देखने का पूरी तरह से असंतोषजनक तरीका है।

मेरे लिए नागरिक समाज के केंद्रक में खुले और सेकुलर संस्थान आते हैं जो नागरिक और आधुनिक संवैधानिक लोकतंत्र के राज्य के बीच मध्यस्थता करते हैं (बेते, 2000: 172:97)।

एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में कम-से-कम तीन घटकों की ज़रूरत होती है –
1. कानून के नियम-कायदे पर आधारित एक संवैधानिक राज्य;
2. धर्म, नस्ल, जाति या लिंग के आधार पर भेदभाव किए बगैर सार्वजनिक नागरिकता;
3. मध्यस्थता वाले संस्थान जो कि खुले और सेकुलर हों।

सिर्फ़ स्वैच्छिक कर्म, भले ही वह कितना ही व्यापक या फ़यदेमंद हो, लोकतांत्रिक सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था को बरकरार रखने के लिए नाकाफ़ी है। इसके लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि संस्थानों को गढ़ा जाए और वक्त के साथ उनका टिका रहना पक्का किया जाए। इस पर विद्यालय की एक संस्थान के तौर पर सामाजिक अहमियत निर्भर करती है।

एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में कम-से-कम तीन घटकों की ज़रूरत होती है – 1. कानून के नियम-कायदे पर आधारित एक संवैधानिक राज्य; 2. धर्म, नस्ल, जाति या लिंग के आधार पर भेदभाव किए बगैर सार्वजनिक नागरिकता; 3. मध्यस्थता वाले संस्थान जो कि खुले और सेकुलर हों। राज्य व नागरिक ऐसी किसी भी व्यवस्था के दो सिरों को दर्शाते हैं और उनकी अहमियत को बमुश्किल ही ज़ोर देकर कहने की ज़रूरत पड़ती है। ऐसे मध्यस्थता वाले संस्थान जो इन दोनों सिरों को आपस में जोड़ते हैं, उनकी अनदेखी करने की प्रवृत्ति नज़र आ रही है। सामाजिक संस्थान व्यक्तियों को एक-दूसरे के साथ जोड़ते हैं और उस व्यापक समाज के साथ भी जोड़ते हैं, जिनके वे सदस्य हैं। ऐसी एक-दूसरे को जोड़ने वाली कड़ियों के बगैर कोई भी समाज लंबे वक्त तक अपने आपको बचाकर नहीं रख सकता।

इसलिए मध्यस्थता वाले संस्थान सभी इंसानों की एक सार्वजनिक ज़रूरत हैं। लेकिन मैं यहाँ पर एक खास किस्म के मध्यस्थता वाले संस्थानों की बात कर रहा हूँ, वे किसी भी तरह के मध्यस्थता वाले संस्थान न होकर ऐसे हैं जो खुले व सेकुलर हैं। कई किस्म की सामाजिक व्यवस्थाएँ होती हैं – कुछ पल दो पल की तो कुछ लंबी उम्र वाली होती हैं; कुछ की सदस्यता पैदाइश से मिलती है तो कुछ दूसरी में सदस्यता का मामला खुला होता है; कुछ तटस्थ/निर्व्यक्तिक नियम-कायदे से चलती हैं तो कुछ दूसरी खून के रिश्ते, जाति और धर्म के नियम कायदे से चलती हैं। एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में इनमें से सभी एक समान तौर पर संगत नहीं होतीं।

मेरे दिमाग में जिस किस्म के खुले व सेकुलर संस्थानों के बीच मौज़द समरूपता है उसकी ओर इशारा करने की शायद ज़रूरत है, ऐसे संस्थान जो संवैधानिक राज्य के आधार पर निर्व्यक्तिक कानून के नियम-कायदों तथा धर्म, नस्ल, जाति या लिंग के आधार पर भेदभाव किए बगैर सार्वजनीन नागरिकता पर आधारित हों। तीनों एक समान मूल्यों के समूह से जीवंत होते हैं। एक संस्थान के तौर पर विद्यालय व्यक्तियों को एक-दूसरे के साथ और व्यापक समाज के साथ जोड़ने में अहम भूमिका अदा कर सकता है। लेकिन सिर्फ़ जोड़ देना ही काफ़ी नहीं है। हम यह नहीं मान सकते हैं कि प्रत्येक विद्यालय एक खुले और सेकुलर संस्थान के तौर पर इस भूमिका को अदा करेगा।

लेकिन अगर विद्यालय ऐसा करता है तो वह एक राष्ट्र के जीवन में सिर्फ शिक्षणशास्त्रीय तौर पर ही नहीं बल्कि सामाजिक तौर पर एक अहम भूमिका अदा करेगा। (भाषान्तर - रवि कान्त)

संदर्भ

एरियस, फिलिपे. 1962. *सेंचुरीज ऑफ चाइल्डहुड.* न्यूयॉर्क, विंटेज बुक्स.

गॉफमैन, इरविंग. 1961. *एसाइलम्स, हरमान्ड्सवर्थ.* पेंग्विन बुक्स।

बेते, आंद्रे. 2000. *एंटीनोमिज ऑफ सोसायटी.* न्यू दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस.

शाह, घनश्याम. 2000. *'होप एंड डिसपेयर' ए जर्नल ऑफ इंडियन स्कूल पॉलिटिकल इकॉनॉमी.* भाग 12 संख्या 3 व 4 पृ. सं. 459-72।